जैन मनोविज्ञान को समझने के लिए 'गुणस्थान' को समझना आवश्यक है। मनोदशाओं का आध्यात्मिक विश्लेषण, उतार-चढ़ाव और भावधारा का प्रवाह 'गुण-स्थान-क्रम' समझ लेने पर सहज ही समझ में आ सकता है। प्रस्तुत लेख 'गुणस्थान-विश्लेषण' में लेखक प्राचीन सन्दर्भों के साथ नवीन मनोवैज्ञानिक शैली लिए चला है।

☐ हिम्मतसिंह सरूपरिया
R. A. S., B. Sc. M. A., LL. B.
साहित्यरत्न, जैनसिद्धान्ताचार्य

जैन मनोविज्ञान का एक गंभीर पक्ष

गुणस्थान-विश्लेषण

☐

परिभाषा

गुणस्थान—यह जैन वाङ्मय का एक पारिभाषिक शब्द है—गुणों अर्थात् आत्मशक्तियों के स्थानों—विकास की क्रमिक अवस्थाओं (Stages) को गुणस्थान कहते हैं; अपर शब्दों में—ज्ञान-दर्शन-चारित्र के स्वभाव, स्थान—उनकी तरतमता। मोहनीय कर्म के उदय, उपशम, क्षय, क्षयोपशम व योग के रहते हुए जिन मिथ्यात्वादि परिणामों के द्वारा जीवों का विभाग किया जावे, वे परिणाम-विशेष गुणस्थान कहे जाते हैं।[1] जिस प्रकार ज्वर का तापमान थर्मामीटर से लिया जाता है उसी प्रकार आत्मा का आध्यात्मिक विकास या पतन नापने के लिए गुणस्थान एक प्रकार का Spirituometer है।

आत्मिक शक्तियों के आविर्भाव की—उनके शुद्ध कार्य रूप में परिणत होते रहने की तरतमभावापन्न अवस्थाओं का सूचक यह गुणस्थान है। साधारणतया प्रत्येक जीवन में गुण और अवगुण के दोनों पक्ष साथ चलते हैं। जीवन को अवगुणों से मोड़कर गुण-प्राप्ति की ओर उन्मुख किया जावे व जीवन अभी कहाँ चल रहा है यह जानकर उसको अन्तिम शुद्ध अवस्था में पहुँचाया जावे यही लक्ष्य इन गुणस्थानों का है।[2]

आत्मा के क्रमिक विकास का वर्णन वैदिक व बौद्ध प्राचीन दर्शनों में उपलब्ध होता है। वैदिक दर्शन के योगवाशिष्ठ, पातंजलयोग में भूमिकाओं के नाम से वर्णन है—जबकि बौद्धदर्शन में ये अवस्थाओं के नाम से प्रसिद्ध है। परन्तु गुणस्थान का विचार जैसा सूक्ष्म, स्पष्ट व विस्तृत जैनदर्शन में है वैसा अन्य दर्शनों में नहीं मिलता। दिगम्बर साहित्य में संक्षेप, ओघ, सामान्य व जीवसमास इसके पर्याय शब्द पाये जाते हैं[3]। आत्मा का वास्तविक स्वरूप (Genuine Nature) शुद्ध चेतना पूर्णानन्दमय (Full Knowledge, Perception, Infinite Beatitude) है, परन्तु इस पर जब तक कर्मों का तीव्र आवरण छाया हुआ है, तब तक उसका असली स्वरूप (Potential Divinity) दिखाई नहीं देता। आवरणों के क्रमशः शिथिल व नष्ट होते ही इसका असली स्वरूप प्रकट होता है (Realisation of self)। जब तक इन आवरणों की तीव्रता गाढ़तम (Maximum) रहे तब तक वह आत्मा प्राथमिक—अविकसित (unevolved) अवस्था में पड़ा रहता है। जब इन आवरणों का कृत्स्नतया सम्पूर्ण क्षय (Total Annihilation) हो जाता है तब आत्मा चरम-अवस्था (Final Stage) शुद्ध स्वरूप की पूर्णता (Puremost Divinity) में वर्तमान हो जाता है। जैसे-जैसे आवरणों की तीव्रता कम होती जाती है वैसे-वैसे आत्मा भी प्राथमिक अवस्था को छोड़कर धीरे-धीरे शुद्धि लाभ करता हुआ चरम विकास की ओर उत्क्रान्ति करता है। परन्तु प्रस्थान व चरम अवस्थाओं के बीच अनेक नीची-ऊँची अवस्थाओं का अनुभव करता है। प्रथम अवस्था अविकास की निष्कृट व चरम अवस्था विकास की पराकाष्ठा है। विकास की ओर अग्रसर आत्मा वस्तुतः उक्त प्रकार की संख्यातीत आध्यात्मिक भूमिकाओं का

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अनुभव करता है पर जैनशास्त्रों में संक्षेप से वर्गीकरण करके उनके चौदह विभाग (Stages or Ladders) किये हैं। जो चौदह गुणस्थान कहाते हैं।

सब आवरणों में मोह का आवरण प्रधान (Dominant) है। जब तक मोह बलवान व तीव्र हो तब तक अन्य सभी आवरण बलवान व तीव्र बने रहते हैं। मोहनीय कर्म की उत्कृष्ट स्थिति ७० कोटाकोटी सागरोपम की है, जबकि ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय, अन्तराय की ३० कोटाकोटी सागरोपम, आयु की ३३ सागरोपम व नाम, गोत्र की प्रत्येक की उत्कृष्ट स्थिति २० कोटाकोटी सागर है। मोहनीय कर्म के आवरण निर्बल होते ही अन्य आवरण भी शिथिल पड़ जाते हैं। अतः आत्मा के विकास में मुख्य बाधक मोह की प्रबलता व मुख्य सहायक मोह की शिथिलता (मंदता) समझें। इसी हेतु गुणस्थानों—विकास क्रमगत अवस्थाओं की कल्पना (Gradation) मोह-शक्ति की उत्कटता, मंदता, अभाव पर अवलंबित है।

मोह की प्रधान शक्तियाँ दो हैं—(१) दर्शनमोहनीय, (२) चारित्रमोहनीय। इसमें से प्रथम शक्ति आत्मा का दर्शन अर्थात् स्वरूप-पररूप का निर्णय (Discretion) किंवा जड़-चेतन का विवेक नहीं करने देती। दूसरी शक्ति आत्मा को विवेक प्राप्त कर लेने पर भी तदनुसार प्रवृत्ति अर्थात् अभ्यास—पर-परिणति से छूटकर स्वरूपलाभ नहीं करने देती। चारित्र—आचरण में बाधा पहुँचाती है। दूसरी शक्ति पहली की अनुगामिनी है। पहली शक्ति के प्रबल होते दूसरी निर्बल नहीं होती—पहिली शक्ति के क्रमशः मन्द, मन्दतर, मन्दतम होते ही दूसरी शक्ति भी क्रमशः वैसी ही होने लगती है। अपर शब्दों में, एक बार आत्मा स्वरूप दर्शन कर पावे तो उसे स्वरूप लाभ करने का मार्ग प्राप्त हो जाता है।

गुणस्थानों का विभागीकरण

(१) **मिथ्यादृष्टि गुणस्थान**—मिथ्यात्व मोहनीय कर्मोदय से जिस जीव की दृष्टि (श्रद्धा—प्रतिपत्ति-Faith) मिथ्या (उलटी, विपरीत) हो जाती है,[४] वह तीव्र मिथ्यादृष्टि कहलाता है। जो वस्तु तत्त्वार्थ है उसमें श्रद्धान नहीं करता विपरीत श्रद्धान रखता है—अतत्त्व में तत्त्वबुद्धि—जो वस्तु का स्वरूप नहीं उसको यथार्थ मान लेना—जो अयथार्थ स्वरूप है उसको यथार्थ मान लेना।[५] जड़ में चेतन मान लेना, भौतिक सुखों में आसक्ति रखना (Hedonism), आत्मा नाम का पदार्थ ही नहीं स्वीकारना, देव-गुरु-धर्म में श्रद्धा नहीं रखना। जिस प्रकार पित्त ज्वर से युक्त रोगी को मीठा रस भी रुचता नहीं—उसी प्रकार मिथ्यात्वी को भी यथार्थ धर्म अच्छा नहीं मालूम होता है।[६] इसके विस्तृत भेद होते हैं।[७] जो नितान्त भौतिकवादी हो।

प्रश्न—मिथ्यात्वी जीव की जबकि दृष्टि अयथार्थ है तब उसके स्वरूप विशेष को गुणस्थान क्यों कहा?

उत्तर—यद्यपि मिथ्यात्वी जीव की दृष्टि सर्वथा अयथार्थ नहीं होती तथापि वह किसी अंश में यथार्थ भी होती है। वह मनुष्य, स्त्री, पशु, पक्षी, आदि को इसी रूप में जानता तथा मानता है। जिस प्रकार बादलों का घना आच्छादन होने पर भी सूर्य की प्रभा सर्वथा नहीं छिपती—किन्तु कुछ न कुछ खुली रहती है जिससे दिन-रात का विभाग किया जा सके, इसी प्रकार मिथ्यात्व मोहनीय कर्म का प्रबल उदय होने पर भी जीव का दृष्टिगुण सर्वथा आवृत नहीं होता। किसी न किसी अंश में उसकी दृष्टि यथार्थ होने से उसके स्वरूप विशेष को गुणस्थान कहा, किसी अंश में यथार्थ होने से ही उसको सम्यग्दृष्टि भी नहीं कह सकते। शास्त्रों में तो ऐसा कहा गया है कि सर्वज्ञ प्रोक्त १२ अंगों में से किसी एक भी अक्षर पर भी विश्वास न करे तो उसकी गणना भी मिथ्यादृष्टि में की गई है। इस गुणस्थान में उक्त दोनों मोहनीय की शक्तियों के प्रबल होने से आत्मा की आध्यात्मिक शक्ति नितान्त गिरी हुई होने से इस भूमिका में आत्मा चाहे आधिभौतिक उत्कर्ष कितना ही प्राप्त कर ले पर उसकी प्रवृत्ति तात्त्विक लक्ष्य से सर्वथा शून्य होने से मिथ्यादृष्टि ही कहा जाता है। परवस्तु के स्वरूप को न समझकर उसी को पाने की उधेड़बुन में वास्तविक सुख (मुक्ति) से वंचितरहता है। इस भूमिका को 'बहिरात्मभाव' वा 'मिथ्यादर्शन' कहा है। इस भूमिका में जितने आत्मा वर्तमान होते हैं उन सबों की भी आध्यात्मिक स्थिति एक-सी नहीं होती। किसी पर मोह का प्रभाव गाढ़तम, किसी पर गाढ़तर, किसी पर अल्प होता है। विकास करना प्रायः आत्मा का स्वभाव है अतः जानते-अजानते जब उस पर मोह का प्रभाव कम होने लगता है तब वह विकासोन्मुख होता

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

हुआ तीव्रतम रागद्वेष को मन्द करता हुआ मोह की प्रथम शक्ति को छिन्न-भिन्न करने योग्य (ग्रन्थिभेद) आत्मबल प्रकट कर लेता है। जिसका वर्णन आगे करेंगे।

(२) **सासादन सम्यग्दृष्टि गुणस्थान**—जो जीव औपशमिक सम्यक्त्व प्राप्त कर चुका है परन्तु अनन्तानुबंधी कषाय के उदय से सम्यक्त्व को वमन कर मिथ्यात्व की ओर झुक रहा है परन्तु मिथ्यात्व को अभी तक स्पर्श नहीं किया, इस अन्तरिम अवस्था (जिसकी स्थिति जघन्य १ समय, उत्कृष्ट ६ आवलिका प्रमाण है) को सासादन सम्यग्दृष्टि कहा है। यद्यपि इस जीव का झुकाव मिथ्यात्व की ओर होता है तथापि जैसे खीर खाकर वमन करने वाले मनुष्य को खीर का 'आस्वादन' आने से इस गुणस्थान को 'सास्वाद'[८] सम्यक्दृष्टि गुणस्थान कहा है। यद्यपि इस गुणस्थान में प्रथम गुणस्थान की अपेक्षा आत्मशुद्धि अवश्य कुछ अधिक होती है परन्तु यह उत्क्रान्ति स्थान नहीं कहा जाता—क्योंकि प्रथम स्थान को छोड़कर उत्क्रान्ति करने वाला आत्मा इस दूसरे गुणस्थान को सीधे तौर से प्राप्त नहीं करता अपितु ऊपर के गुणस्थान से गिरने वाला (Somersault) आत्मा ही इसका अधिकारी बनता है—अधःपतन मोह के उद्रेक से तीव्र कषायिक शक्ति के आविर्भाव से पाया जाता है—स्वरूप बोध को प्राप्त करके भी मोह के प्रबल थपेड़ों से आत्मा पुनः अधोगामिनी बनती है।

(३) **सम्यग्मिथ्यादृष्टि (मिश्र) गुणस्थान**—मिथ्यात्व के जब अर्द्धविशुद्ध पुंज (आगे वर्णन आवेगा) का उदय होता है तब जैसे गुड़ से मिश्रित दही का स्वाद कुछ खट्टा, कुछ मधुर—मिश्र होता है। उसी प्रकार जीव की दृष्टि कुछ सम्यक् (शुद्ध), कुछ मिथ्या (अशुद्ध)—मिश्र हो जाती है।[९] इस गुणस्थान के समय में बुद्धि में दुर्बलता-सी आ जाती है जिससे जीव सर्वज्ञ प्रोक्त तत्त्वों में न तो एकान्त रुचि रखता है न एकान्त अरुचि बल्कि नालिकेर द्वीपवासीवत् मध्यस्थभाव रखता है। इस गुणस्थान में न तो केवल सम्यग्दृष्टि न केवल मिथ्यादृष्टि किन्तु दोलायमान स्थिति वाला जीव बन जाता है। उसकी बुद्धि स्वाधीन न होने से देहशील हो जाती है, न तो तत्त्व को एकान्त अतत्त्वरूप समझता है, न अतत्त्व को तत्त्वरूप—तत्त्व-अतत्त्व का वास्तविक विवेक नहीं कर सकता है। इसकी दूसरे गुणस्थान से यह विशेषता है कि कोई आत्मा प्रथम गुणस्थान से निकलकर सीधा ही तीसरे गुणस्थान को पहुँचता है—कोई अपक्रान्ति करने वाला आत्मा चतुर्थादि गुणस्थान से पतन कर इस गुणस्थान को प्राप्त करता है। उत्क्रान्ति व अपक्रान्ति करने वाले दोनों प्रकार के आत्माओं का आश्रय यह तीसरा गुणस्थान है।

सम्यक्त्व प्राप्ति की पूर्व भूमिकाएँ

जीव अनादि काल से संसार में पर्यटन कर रहा है और तरह-तरह के दुःखों को पाता है। जिस प्रकार पर्वतीय नदी का पत्थर इधर-उधर टकराकर गोल-चिकना बन जाता है उसी प्रकार जीव अनेक दुःख सहते हुए कोमल शुद्ध परिणामी बन जाता है। परिणाम इतने शुद्ध हो जाते हैं कि जिसके बल से जीव आयु को छोड़ शेष सात कर्मों की स्थिति को पल्योपमासंख्यातभागन्यून कोटाकोटी सागरोपम प्रमाण कर देता है। इस परिणाम का नाम शास्त्रीय भाषा में यथाप्रवृत्तिकरण कहा गया है। जब कोई अनादि मिथ्यादृष्टि जीव प्रथम बार सम्यक्त्व ग्रहण करने के उन्मुख होता है तो वह तीन[१०] उत्कृष्ट योग लब्धियों से युक्त—करणलब्धि (दिगम्बर मत से चार[११] लब्धि से युक्त करणलब्धि) करता है। करण—'परिणाम लब्धि—शक्ति प्राप्ति। उस जीव को उस समय ऐसे उत्कृष्ट परिणामों की प्राप्ति होती है जो अनादि काल से पड़ी हुई मिथ्यात्व रूपी रागद्वेष की ग्रन्थि—गूढ गाँठ को भेदने में समर्थ होते हैं वे परिणाम तीन प्रकार के हैं—१. यथाप्रवृत्तिकरण[१२] २. अपूर्वकरण, ३. अनिवृत्तिकरण। यह क्रमशः होते हैं, प्रत्येक का काल अन्तर्मुहूर्त है।

यथाप्रवृत्तिकरण—इस करण (परिणामों) द्वारा जीव रागद्वेष की एक ऐसी मजबूत गाँठ, जो कि कर्कश, दृढ़, दुर्भेद होती है वहाँ तक आता है, उसी को ग्रन्थिदेश[१३] प्राप्ति कहते हैं। अभव्यजीव[१४] भी ग्रन्थिदेश को प्राप्त कर सकते हैं अर्थात् कर्मों की बहुत बड़ी स्थिति को घटाकर अन्तः कोटाकोटी सागरोपम प्रमाण कर सकते हैं। परन्तु राग-द्वेष की दुर्भेद ग्रन्थि को वे तोड़ नहीं सकते। कारण उनको विशिष्ट अध्यवसाय की न्यूनता है—मोहनीय कर्म की सर्वोपशमना नहीं कर सकने से उनको औपशमिक सम्यक्त्व की प्राप्ति नहीं होती। इस ग्रन्थिप्रदेश में संख्येय, असंख्येय

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

काल पड़ा रहकर अभव्य होने से उसके अध्यवसाय मलिन होने से पुनः अधःपतन करता है। अभव्य को भी दश पूर्व ज्ञान से कुछ न्यून द्रव्यश्रुत संभव है[१५] क्योंकि कल्प भाष्य के उल्लेख का आशय है कि जब १४ पूर्व से लेकर १० पूर्व का पूर्ण ज्ञान हो तो सम्यक्त्व संभव है—न्यून होने पर भजना है। कोई एक आत्मा ग्रन्थि भेद योग्य बल लगाने पर भी अन्त में रागद्वेष के तीव्र प्रहारों से आहत होकर अपनी मूल स्थिति में आ जाते हैं—कोई चिरकाल तक उस आध्यात्मिक युद्ध में जूझते रहते हैं। कोई भव्य आत्मा यथाप्रवृत्ति परिणाम से विशेष शुद्ध परिणाम पाकर रागद्वेष के दृढ़ संस्कारों को छिन्न-भिन्न कर आगे बढ़ता है। शास्त्र में अटवी में चोरों को देखकर एक पुरुष तो भाग गया, दूसरा पकड़ा गया, तीसरा उनको हराकर आगे बढ़ा, इस दृष्टान्त द्वारा समझाया गया है। उसी प्रकार तीनों करण हैं[१६]।

अपूर्वकरण—जिस विशेष शुद्ध परिणाम से भव्य जीव इस रागद्वेष की दुर्भेद ग्रन्थि को लाँघ जाता है, उस परिणाम को शास्त्रीय भाषा में अपूर्वकरण कहा। इस प्रकार का परिणाम कदाचित् ही होता है बार-बार नहीं अतः अपूर्व कहा[१७]। यह अनिवृत्तिकरण का कारण है।[१८] यथाप्रवृत्तिकरण तो एकेन्द्रिय से पंचेन्द्रिय को संभव है परन्तु अपूर्वकरण का अधिकारी पर्याप्त पंचेन्द्रिय होता है जो देशोनअर्द्धपुद्गल परावर्तन काल में तो अवश्य मुक्ति में जाने वाला है। इस जीव को आत्म-कल्याण करने की तीव्र अभिलाषा रहती है। संसार के खट-पट से दूर रहना चाहता है। ईर्ष्या-द्वेष-निन्दा के दोष उस पर कम प्रभाव डालते हैं। सत्पुरुषों के प्रति बहुमान भक्ति दिखाता है, यों कहें कि ये जीव आध्यात्म की प्रथम भूमिका पर है। उसके मिथ्यात्व का उत्कृष्ट स्थितिबन्ध रुक जाता है[१९] यथाप्रवृत्तिकरण में स्थितिघात, रसघात, गुणश्रेणी प्रवर्तन को कोई स्थान नहीं परन्तु अपूर्वकरण में द्विस्थानक रस वाले अशुभ कर्म को उससे भी प्रति समय हीन हीनरस को व शुभकर्म का द्विस्थान से चतुःस्थानक प्रतिसमय अनन्तगुण अधिक अनुभाग को बाँधता है।[२०] इसमें स्थिति-घात, रसघात, गुणसंक्रमण, अभिनव स्थितिबन्ध कार्य होता है।

अनिवृत्तिकरण[२१]—अपूर्वकरण परिणाम से जब रागद्वेष की ग्रन्थि छिन्न-भिन्न हो जाती है, तब तो जीव के और भी अधिक शुद्ध परिणाम होते हैं। जिस शुद्ध परिणाम को अनिवृत्ति कहते हैं। 'अनिवृत्ति' से अभिप्राय इस परि-णाम के बल से जीव सम्यक्त्व को प्राप्त कर ही लेता है। उसको प्राप्त किये बिना पीछे नहीं हटता। वह दर्शन मोहनीय पर विजय पा लेता है। इस परिणाम की स्थिति भी अन्तर्मुहूर्त की है। 'निवृत्ति' का अर्थ 'भेद' भी होता है। इस करण में समसमय वाले त्रिकालवर्ती जीवों के परिणाम विशुद्ध समान होते हैं भेद नहीं होता यद्यपि एक जीव के उत्तरोत्तर समयों में अनन्तगुणी विशुद्धि होती है। इस करण में भी स्थिति, अनुभागादि घात के चारों कार्य प्रवर्तते हैं। इस अनिवृत्तिकरण के बल से अन्तरकरण बनता है।

अन्तरकरण (Interception Gap)—अनिवृत्तिकरण के अन्तर्मुहूर्त प्रमाण स्थिति में जब कई एक भाग व्यतीत हो जाते हैं व एक भाग मात्र शेष रह जाता है तब अन्तरकरण क्रिया प्रारम्भ होती है। वह भी अन्तर्मुहूर्त प्रमाण ही होती है। अन्तर्मुहूर्त के असंख्यात भेद होते हैं अतः अनिवृत्तिकरण के अन्तर्मुहूर्त काल से अन्तरकरण काल का अन्तर्मुहूर्त छोटा होता है। अनिवृत्तिकरण के अन्तिम भाग में जो मिथ्यात्व मोहनीय कर्म उदयमान है, उसके उन दलिकों को जो अनिवृत्तिकरण के बाद अन्तर्मुहूर्त तक उदय में आने वाले हैं, आगे-पीछे कर लेना अर्थात् उन दलिकों में से कुछ को अनिवृत्तिकरण के अन्तिम समय पर्यन्त उदय में आने वाले दलिकों में स्थापित कर देना (प्रथम स्थिति) व कुछ दलिकों को उस अन्तर्मुहूर्त के बाद उदय में आने वाले दलिकों के साथ मिला देना (द्वितीय स्थिति), इस तरह जिसका आबाधा काल पूरा हो चुका है ऐसे मिथ्यात्व मोहनीय कर्म के दो भाग किये जाते हैं। एक भाग तो वह है जो अनिवृत्ति-करण के चरम समय तक उदयमान रहता है और दूसरा जो अनिवृत्तिकरण के बाद एक अन्तर्मुहूर्त प्रमाण काल व्यतीत हो चुकने पर उदय में आता है। इस प्रकार मध्य भाग में रहे हुए कर्म दलिकों को प्रथम स्थिति व द्वितीय स्थिति में स्थापित करने के कारण रूप क्रिया विशेष के अध्यवसाय अन्तरकरण कहलाते हैं। इस तरह अनिवृत्तिकरण का अन्तिम समय व्यतीत हो जाने पर अन्तरकरण काल में कोई भी मोहनीय कर्म के दलिक ऐसे नहीं रहते जिनका प्रदेश व विपा-कोदय संभव हो। सब दलिक अन्तरकरण क्रिया से आगे-पीछे उदय में आने योग्य कर दिये गये हैं। अतः अनिवृत्तिकरण काल व्यतीत हो जाने पर जीव को **औपशमिक सम्यक्त्व** प्राप्त होता है जिसका काल 'उपशान्ताद्धा' अन्तर्मुहूर्त कह चुके हैं। इस उपशान्ताद्धा काल में मिथ्यात्व मोहनीय कर्म का अल्पांश भी उदय न रहने से व अति दीर्घ स्थिति वाले तादृश कर्मों को अध्यवसाय के बल से दबा देने से रागद्वेष के उपशम होने से अनादि मिथ्यादृष्टि जीव को औपशमिक प्रादुर्भाव

होने से एक अवर्णनीय आल्हाद अनुभव होता है। उसकी पर-रूप में स्वरूप की जो भ्रान्ति थी—इस काल में दूर हो जाती है। वह अन्तरात्मा में परमात्म भाव को देखने लगता है। घाम से परितापित पथिक को शीतल छाया का सुख—जन्मान्ध रोगी को नेत्र लाभ, असाध्य व्याधि से मुक्त रोगी को जो सुख अनुभव होता है उससे भी अधिक सुख यह जीव सम्यक्त्व प्राप्ति से अनुभव करता है।[22] उपशान्ताद्धा के पूर्व समय में (प्रथम स्थिति के चरम समय में) जीव विशुद्ध परिणाम से उस मिथ्यात्व के तीन पुंज करता है, जो उपशान्ताद्धा के पूरे हो जाने पर उदय में आने वाले हैं। कोद्रव-धान की शुद्धि विशेषवत् कुछ भाग विशुद्ध, कुछ अर्द्ध शुद्ध, कुछ अशुद्ध ही रहता है। उपशान्ताद्धा पूर्ण होने पर उक्त तीनों पुन्जों में से कोई एक पुन्ज परिणामानुसार उदय में आता है।[23] विशुद्ध पुन्ज के उदय होने से क्षायोपशमिक सम्यक्त्व प्रकट होता है जो सम्यक्त्व मोहनीय होकर सम्यक्त्व का तो घात नहीं करता परन्तु देशघाती रसयुक्त होने से विशिष्ट श्रद्धानुरूप देश को रोकता है। किंचित् मलिनता रहती है, चल दोष (रत्नत्रय की प्रतीति रहे—परन्तु यह स्वकीय है, यह अन्य है) मल दोष (शंकादि मल लगावे) अगाढ़दोष (सम्यक्त्व में स्थिरता न रहे) आदि दोष रहते हैं। यदि जीव के परिणाम अर्द्धशुद्ध उदय में आवे तो मिश्रमोहनीय (३ गुणस्थान) व यदि परिणाम अशुद्ध उदय में आवे तो मिथ्यात्व मोहनीय (मिथ्यादृष्टि) हो जाता है। उपशान्ताद्धा जिसमें जीव शान्त, प्रशान्त, स्थिर व पूर्णानन्द हो जाता है उसका जघन्य १ समय और उत्कृष्ट ६ आवलिका काल जब बाकी रहे तब किसी-किसी औपशमिक सम्यक्त्वी को विघ्न आ पड़ता है। शान्ति में भंग पड़ जाता है। अनन्तानुबंधी कषाय का उदय होते ही जीव सम्यक्त्व परिणाम को वमन कर मिथ्यात्व की ओर झुकता है जब तक मिथ्यात्व को स्पर्श नहीं करता, उस समय वह सासादन सम्यग्दृष्टि कहाता है (जिसका कथन दूसरे गुणस्थान में किया है)। जब क्षायोपशमिक सम्यक्त्वी क्षायिक सम्यक्त्व के सन्मुख हो मिथ्यात्व मोहनीय, मिश्र-मोहनीय प्रकृति का तो क्षय कर दे परन्तु सम्यक्त्व मोहनीय के काण्डकछातादि क्रिया नहीं करता उसको कृतकृत्य वेदक सम्यग्दृष्टि नाम दिया गया है क्योंकि वह मोहनीय कर्म के अन्तिम पुद्गल का वेदन कर रहा है। इसका जघन्य व उत्कृष्ट काल १ समय है। जिसके अनन्तर ही क्षायिक सम्यक्त्व का आविर्भाव हो जाता है।

क्षायिक सम्यक्त्व—जब दर्शन मोहनीय की ३ प्रकृतियों का सर्वथा रूप सब निषेकों का क्षय हो जावे व अनन्तानुबंधी चतुष्क का भी सर्वथा क्षय हो जावे तब अत्यन्त निर्मल तत्त्वार्थ श्रद्धान जो प्रकट हो, वह क्षायिक सम्यक्त्व कहलाता है। इस तरह से सम्यक्त्व के ५ भेद—औपशमिक, क्षायोपशमिक, क्षायिक, वेदक व सास्वादन होते हैं और भी प्रकार नीचे बतलायेंगे।

सम्यक्त्व क्या है—पहचानें कैसे? सम्यक् यह प्रशंसा वाचक शब्द है (अंचतेः क्वौ समंचतीति सम्यगिति। अस्यार्थः प्रशंसा)[24] सम्यग् जीव सद्भावः, विपरीताभिनिवेश रहित मोक्ष के अविरोधि परिणाम संवेगादि युक्त आत्मा का सद्बोध रूप परिणाम विशेष सम्यक्त्व कहलाता है जो मोहनीय प्रकृति के अनुवेदन बाद उपशम व क्षय से उत्पन्न होता है। दर्शन मोहनीय की ३ प्रकृतियों के क्षय व उपशम के सहचारी अनन्तानुबंधी प्रकृतियों का भी क्षय व उपशम है।[25] तत्त्वार्थ-श्रद्धान् उसका लक्षण है। शम, संवेग, निर्वेद, अनुकंपा, आस्तिक्य इसकी पहचान है।

प्रकार १. तत्त्व व उसके अर्थ में श्रद्धान रूप (तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनं)

प्रकार २. (क) निश्चय सम्यक्त्व—अनन्तगुणों के पुंज रूप मुख्य गुण ज्ञान-दर्शन-चारित्रादि जिसके हैं—उस अखण्ड आत्मा में यथार्थ प्रतीति करना[26] उसका ज्ञायक स्वभाव है। जिससे 'स्व' 'पर' दोनों को जानकर अपने से विभावावस्था से हटकर स्वभाव में स्थित होता है। निश्चय नय में आत्मा ही ज्ञान-दर्शन-चारित्र है—जो आत्मा में ही रत है वह सम्यग्दृष्टि है।[27] निश्चयानुसार आत्मविनिश्चिति ही सम्यग्दर्शन है। आत्मज्ञान ही सम्यक्बोध, आत्मस्थिति ही सम्यक्चारित्र है। यह सत्य की पराकाष्ठा है, आत्मदर्शन की स्वयं अनुभूति है।

(ख) व्यवहार सम्यक्त्व—परन्तु उपरोक्त स्थिति तो उच्च चारित्रधारी महात्माओं की तेरहवें-चौदहवें गुणस्थान में होती है। उस लक्ष्य को पहुँचने के लिए उसमें सहायक निमित्त कारण देव, गुरु, धर्म होते हैं जिनमें प्रतीति-रुचि रख जिनसे ज्ञात नवतत्त्वादि पदार्थों में श्रद्धान रखना व्यवहार सम्यक्त्व कहाता है। अभेद वस्तु को भेद रूप से उपचार से व्यवहृत करना व्यवहार है।[28] विपरीताभिनिवेश रहित जीव को जो आत्म-श्रद्धान हुआ उसके निमित्त देव-गुरु-धर्म[29] नवतत्त्वादि हुए उनमें श्रद्धान होने से इस निमित्त को

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

व्यवहार सम्यक्त्व कहा।[३०] दोनों में से निश्चय सम्यक्त्व को भाव सम्यक्त्व व अपौद्गलिक, व्यवहार को द्रव्य सम्यक्त्व, पौद्गलिक भी कहा।

प्रकार ३. औपशमिक, क्षायिक व क्षायोपशमिक (उदयप्राप्त मोहनीय का क्षय, अनुदय का उपशम)।

प्रकार ४. (क) कारक—जिसके प्राप्त होने पर जीव सदनुष्ठान में श्रद्धा रखता है। स्वयं आचरे दूसरों का पलावे।

(ख) रोचक—जिसके प्राप्त होने पर जीव सदनुष्ठान में रुचि रखता है परन्तु आचरण नहीं कर सकता (श्रीकृष्ण, श्रेणिक)।

(ग) दीपक—जो मिथ्यादृष्टि स्वयं तो तत्त्वश्रद्धान से शून्य हो परन्तु उपदेशादि द्वारा दूसरों में तत्त्वश्रद्धा उत्पन्न करे। उसका उपदेश दूसरों में समकित का कारण होने से कारण में कार्य का उपचार कर 'दीपक' कहा।

प्रकार ५. औपशमिक, क्षायिक, क्षायोपशमिक, सास्वादन, वेदक। ऊपर व्याख्या की गई है। ये पाँचों प्रकार के सम्यक्त्व निसर्ग (स्वभाव) व उपदेश से उत्पन्न होते हैं।

प्रकार १०. निसर्गरुचि, उपदेशरुचि, आज्ञारुचि, सूत्ररुचि, बीजरुचि, अधिगमरुचि, विस्ताररुचि, क्रियारुचि, संक्षेपरुचि, धर्मरुचि (उत्तरा, २८।१६)।

प्र०—सम्यग्दर्शनी व सम्यग्दृष्टि में क्या अन्तर है?

उ०—सम्यग्दृष्टि के दो भेद हैं—सादि सपर्यवसान, सादि अपर्यवसान। सादि सपर्यवसान वाले सम्यक्दर्शनी हैं। उनका सम्यक्दर्शन ज्ञानावरणादि कर्मों के क्षयोपशम से जन्य है (अपाय सद्द्रव्यवर्तिनी—अपाय, मतिज्ञान का भेद)[३१], जबकि केवली को मोहनीय कर्म के क्षय से सम्भव है—केवली को मतिज्ञान का अपायापगम अभाव है। अतः सयोगि अयोगि केवली व सिद्धों के जीव सम्यग्दृष्टि कहलाते हैं व चार से बारहवें गुणस्थानी जीव को सम्यग्दर्शनी कहा। सम्यग्दर्शनी की स्थिति जघन्य अंतर्मुहूर्त, उत्कृष्ट ६६ सागरोपम से कुछ अधिक है। सम्यग्दर्शनी असंख्येय हैं जबकि सम्यग्दृष्टि अनन्त होते हैं (सिद्ध भी सम्मिलित हैं)। सम्यग्दर्शनी का क्षेत्र लोक का असंख्यातवां भाग है जबकि सम्यग्दृष्टि का क्षेत्र समस्त लोक है।

(४) अविरत सम्यग्दृष्टि गुणस्थान[३२]—सावद्यव्यापारों को छोड़ देना अर्थात् पापजनक कार्यों से अलग होना विरति कहलाता है। चारित्र वा व्रत विरति का ही नाम है। जो सम्यक्दृष्टि होकर भी किसी प्रकार के व्रत नियम धारण नहीं कर सकता, उसको अविरत सम्यग्दृष्टि, उसका स्वरूप अविरत सम्यग्दृष्टि गुणस्थान कहलाता है। व्रत नियम में बाधक उसके अप्रत्याख्यानावरण चतुष्क का उदय है। परन्तु यहाँ सद्बोध रुचि, श्रद्धा प्राप्त हो जाने से आत्मा का विकासक्रम यहीं से प्रारम्भ हो जाता है। इस गुणस्थान को पाकर आत्मा शान्ति का अनुभव करता है। इस भूमिका में आध्यात्मिक दृष्टि यथार्थ (आत्मस्वरूपोन्मुख) होने से विपर्यास रहित होती है। पातंजल योग में जो अष्ट भूमिकाएँ (यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान व समाधि) बताई व यशोविजयजी ने हरिभद्रजी के योग-दृष्टि समुच्चय के आधार पर संज्ञायों की रचना की उनमें से (मित्रा, बला, तारा, दीप्रा, स्थिरा, कान्ता, प्रभा, परा) प्रत्याहार तदनुसार स्थिरा[३३] से समकक्ष यह सम्यक्त्व की दृष्टि है। चतुर्थ गुणस्थान में आत्मा के स्वरूप दर्शन से जीव को विश्वास हो जाता है कि अब तक जो मैं पौद्गलिक बाह्य सुख में तरस रहा था वह परिणाम विरस, अस्थिर व परिमित है। सुन्दर व अपरिमित सुख स्वरूप की प्राप्ति में है। तब वह विकासगामी स्वरूप स्थिति के लिए प्रयत्नशील बनता है। कृष्ण पक्षी से शुक्ल पक्षी बनता है। अन्तरात्मा कहा जाता है व चारित्रमोह की शक्ति को निर्बल करने के लिए आगे प्रयास करता है।

(५) देशविरति गुणस्थान[३४]—प्रत्याख्यानावरण कषाय के उदय के कारण जो जीव पापजनक क्रियाओं से सम्पूर्णतया नहीं अपितु अंश से विरक्त हो सकते हैं वे देशविरत या श्रावक कहे जाते हैं। उनका स्वरूप विशेष देशविरत गुणस्थान कहलाता है। कोई एक व्रतधारी व अधिक से अधिक १२ व्रतधारी व ११ प्रतिमाधारी होते हैं तो कोई अनुमति सिवाय (प्रतिसेवना, प्रतिश्रवणा, संवासानुमति) न सावद्यवृत्ति करते हैं न कराते हैं। इस गुणस्थान में विकासगामी आत्मा को यह अनुभव होने लगता है कि यदि अल्पविरति से भी इतना अधिक शान्तिलाभ हुआ तो सर्व विरति—जड़ पदार्थों के सर्वथा परिहार—से कितना लाभ होगा? सर्वविरति के लिए आगे बढ़ता है।

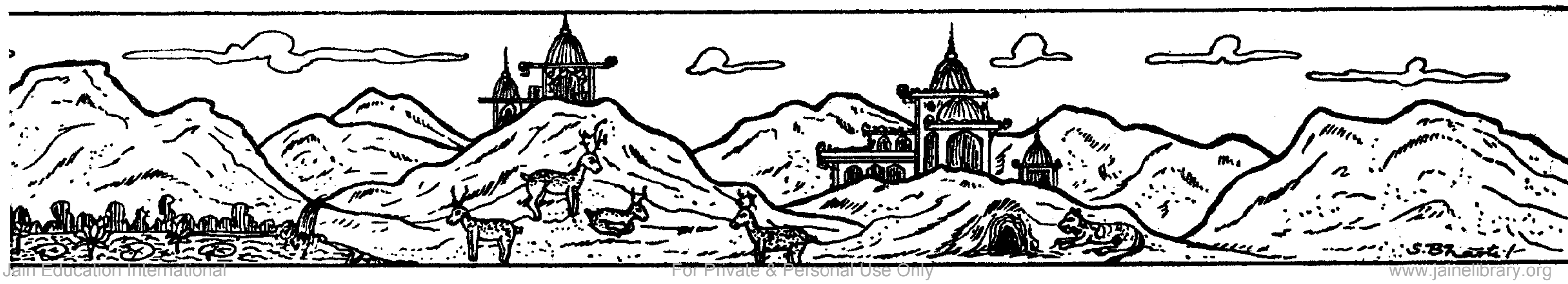

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

(६) **प्रमत्तसंयत गुणस्थान**[३५]—जो जीव पापजनक व्यापारों से विधिपूर्वक सर्वथा निवृत्त हो, संयत मुनि हो जाता है। संयत भी जब तक प्रमाद (मद्य, विषय, कषाय, निद्रा, विकथा) का सेवन करते हैं, प्रमत्तसंयत कहलाते हैं। प्रत्याख्यानावरणीय का तो इनके क्षयोपशम हो चुका है परन्तु उस संयम के साथ संज्वलन व नोकषाय का उदय रहने से मल को उत्पन्न करने वाला जो प्रमाद है (इसके अनेक भेद हैं[३६])। अतएव प्रमत्तसंयत गुणस्थान कहा। औदयिक भाव की अपेक्षा चारित्र क्षायोपशमिक भाव है परन्तु सम्यक्त्व की अपेक्षा औपशमिक, क्षायिक व क्षायोपशमिक कोई भी सम्यक्त्व सम्भव है। संयम से शान्ति तो है परन्तु प्रमाद से कभी शान्ति में बाधा होती है।

(७) **अप्रमत्तसंयत गुणस्थान**[३७]—जब संज्वलन और नोकषाय का मन्द उदय होता है तब संयत मुनि के प्रमाद का अभाव हो जाता है, किसी प्रमाद का सेवन नहीं करता, इसका स्वरूप विशेष अप्रमत्तसंयत गुणस्थान कहा। वह मूलगुण व उत्तरगुणों में अप्रमत्त महात्मा निरन्तर अपने स्वरूप की अभिव्यक्ति के चिन्तन-मनन में रत रहता है। ऐसा मुनि जब तक उपशमक व क्षपक श्रेणी का आरोहण नहीं करता[३८] तब उसको अप्रमत्त व निरतिशय अप्रमत्त कहते हैं। इस स्थिति में एक ओर तो मन अप्रमादजन्य उत्कृष्ट सुख का अनुभव करते रहने के लिए उत्तेजित करता है तो दूसरी ओर प्रमादजन्य वासनाएँ उसको अपनी ओर खींचती हैं। इस तुमुल युद्ध में विकासगामी आत्मा कभी छठे, कभी सातवें गुणस्थान में अनेक बार आता-जाता है। शुद्ध अध्यवसायों से आगे बढ़ता है।

(८) **नियट्टि बादर (अपूर्वकरण) गुणस्थान**—नियट्टि का अर्थ भिन्नता, बादर—बादर कषाय, इस गुणस्थान में भिन्न समयवर्ती जीवों के परिणाम विशुद्धि की अपेक्षा सदृश नहीं होते अतः नियट्टि नाम[३९] रखा तथा उन जीवों के परिणाम ऐसे विशुद्ध होते हैं जो पहले कभी नहीं हुए थे अतः अपूर्वकरण[४०] भी कहा। इस गुणस्थान में त्रिकालवर्ती जीवों के अध्यवसाय स्थान असंख्यात लोकाकाशों के प्रदेश समान होते हैं व समसमयवर्ती जीवों के अध्यवसाय स्थान असंख्यात लोकाकाशों के प्रदेश समान होते हैं। इस गुणस्थान का काल अन्तर्मुहूर्त है—असंख्यात के असंख्यात भेद हैं। पूर्ववर्ती जीवों के अध्यवसाय स्थान से अन्तिमवर्ती जीवों के अध्यवसाय अनन्त गुण अधिक शुद्ध व समसमयवर्ती के भी एक दूसरे की अपेक्षा षट् स्थानगत (अनन्त भाग अधिक, असंख्य भाग अधिक, संख्यात भाग अधिक, संख्यात गुण अधिक, असंख्यात गुण अधिक व अनन्त गुण अधिक) विशुद्धि लिए हुए होते हैं। इसी प्रकार प्रथम समय से अन्तिम समय के अधिक विशुद्ध जानो। इस आठवें गुणस्थान के समय जीव पाँच विधान प्रक्रियायें करते हैं—स्थितिघात, रसघात, गुणश्रेणी, गुणसंक्रमण, अपूर्वस्थितिबन्ध।

स्थितिघात—जैसा कि ऊपर कह आये हैं—जो कर्म दलिक आगे उदय में आने वाले हैं, उनको अपवर्तनाकरण द्वारा अपने उदय के नियत समय से हटा देना अर्थात् बड़ी स्थिति को घटा देना।

रसघात—बंधे हुए ज्ञानावरणादि कर्मों के प्रचुर रस को अपवर्तनाकरण से मंद रस वाले कर देना।

गुणश्रेणी[४१]—उदय क्षण से लेकर प्रति समय असंख्यात गुणे, असंख्यात गुणे कर्म दलिकों की रचना करना अर्थात् जिन कर्मदलिकों का स्थितिघात किया जाता है—उनको उदय समय से लेकर अन्तर्मुहूर्त पर्यन्त जितने समय होते हैं—उनमें उदयावलिका के समय को छोड़ शेष समय रहें उनमें प्रथम समय में जो दलिक स्थापित किये जावें उनसे असंख्यात गुणे अधिक दूसरे समय में, उनसे असंख्यात गुणे अधिक तीसरे समय में इस प्रकार अन्तर्मुहूर्त के चरम समय तक स्थापित कर निर्जरित करना गुणश्रेणी कहलाता है।

गुणसंक्रमण—पहले बांधी हुई अशुभ प्रकृतियों का बध्यमान शुभ प्रकृतियों में परिणत करना।

अपूर्वस्थितिबंध—पहले की अपेक्षा अल्प स्थिति के कर्मों को बांधना। यद्यपि इन स्थितिघातादि का वर्णन समकितपूर्व भी कहा परन्तु वहाँ अध्यवसाय की जितनी शुद्धि है उससे अधिक इन गुणस्थानों में होती हैं। वहाँ अल्प स्थिति अल्प रस का घात होता है—यहाँ अधिक स्थिति, अधिक रस का। वहाँ दलिक अल्प होते हैं व काल अधिक लगता है यहाँ काल अल्प, दलिक अधिक, वहाँ अपूर्वकरण में देशविरति, सर्वविरति प्राप्त्यर्थ गुणश्रेणि की रचना नहीं होती—यह रचना सर्वविरति की प्राप्ति बाद होती है। आठवें गुणस्थान में वर्तमान जीव चारित्र मोहनीय के उपशमन व क्षपण के योग्य होने से उपशमक व क्षपक योग्यता की अपेक्षा कहलाता है। चारित्र मोहनीय का उपशमन क्षपण तो नवमें गुण-स्थान में ही होता है।

(९) **अनिवृत्ति बादर संपराय गुणस्थान**[४२]—अन्तर्मुहूर्त काल मात्र अनिवृत्तिकरण गुणस्थान में त्रिकालवर्ती

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जीवों में समसमयवर्ती जीवों के अध्यवसाय स्थान सदृशपरिणाम वाले होने से उस स्थान को अनिवृत्ति (भिन्नता का अभाव, सदृश) बादर (कषाय) कहा। यद्यपि उनके शरीर अवगाहनादि बाह्य कारणों में व ज्ञानावरणादि कर्मों के क्षयोपशमादि अन्तरंग कारणों में भेद भी है—परन्तु परिणामों के निमित्त से परस्पर भेद नहीं है। इसमें अध्यवसायों के उतने ही वर्ग हैं जितने कि उस गुणस्थान के समय होते हैं—प्रथमवर्गीय के अध्यवसायस्थान से दूसरे समय वाले के अध्यवसाय अनन्तगुण विशुद्ध होते हैं। आठवें से इसमें अध्यवसाय की भिन्नताएँ बहुत कम हैं, वर्ग कम हैं। इस स्थान को प्राप्त करने वाले जीव या तो उपशमक (चारित्रमोहनीय कर्म का उपशमन करने वाले) या क्षपक (चारित्रमोहनीय का क्षय करने वाले) होते हैं।

(१०) **सूक्ष्मसंपराय गुणस्थान**[४३]—इस गुणस्थान में संपराय अर्थात् लोभ के सूक्ष्म खण्डों का उदय होने से इसका नाम सूक्ष्मसंपराय पड़ा। जिस प्रकार धुले हुए कसूमी वस्त्र में लालिमा का अंश रह जाता है उसी प्रकार जीव सूक्ष्म राग (लोभ कषाय)से युक्त है। चारित्रमोहनीय की अप्रत्याख्यानावरण, प्रत्याख्यानावरण, संज्वलन, नोकषाय =२१ प्रकृतियों में से उपरोक्त तीन करणों के परिणामों से २० प्रकृतियों के क्षय व उपशम होने पर भी सूक्ष्म कृष्टि को प्राप्त लोभ का ही यहाँ उदय है—मोहनीय कर्म की शेष कोई प्रकृति नहीं जिसका उपशम व क्षय किया जाय।

(११) **उपशान्त कषाय (वीतराग छद्मस्थ) गुणस्थान**[४४]—निर्मली (कतक) फल से युक्त जल की तरह अथवा शरद् ऋतु में ऊपर से स्वच्छ हो जाने से सरोवर के जल की तरह सम्पूर्ण मोहनीय कर्म के उपशम से उत्पन्न होने वाले निर्मल परिणामों को उपशान्त कषाय गुणस्थान कहा। जिनके कषाय उपशम हो गये हैं, जिनको राग का भी (माया या लोभ का) सर्वथा उदय नहीं है (सत्ता में अवश्य है), जिनकी छद्मस्थ अवस्था है (घाती कर्मों का आवरण लगा हुआ है) उनका स्वरूप विशेष। इस गुणस्थान की स्थिति जघन्य एक समय व उत्कृष्ट अन्तर्मुहूर्त की है। इस गुणस्थान को प्राप्त जीव आगे गुणस्थानों को प्राप्त नहीं कर सकता क्योंकि इसके मोहनीय कर्म सत्ता में हैं। ऐसा जीव उपशम श्रेणि वाला है। आगे के लिए क्षपक श्रेणी चाहिए। उसी गुणस्थान में आयु पूर्ण हो तो अनुत्तर विमान में देव होकर चौथे गुणस्थान को प्राप्त करता है—आयुक्षय न हो तो जैसे चढ़ा वैसे ही गिरता-गिरता दूसरे गुणस्थान यदि वहाँ से न सँभले तो प्रथम गुणस्थानवर्ती भी हो जाता है। फिर वह एक बार और उपशम श्रेणी या क्षपक श्रेणी कर सकता है, यह कर्मग्रन्थ की मान्यता है। सिद्धान्त का कहना है कि जीव एक जन्म में एक बार ही श्रेणी कर सकता है अतः जो एक बार उपशम श्रेणी कर चुका वह फिर उसी जन्म में क्षपक श्रेणी नहीं कर सकता।

उपशम श्रेणी आरोहण क्रम[४५]—चतुर्थ गुणस्थान से लेकर सप्तम तक पहले अनन्तानुबंधी कषाय का उपशम करता है, तदनन्तर दर्शन मोहनीय का, फिर नवम गुणस्थान में क्रमशः नपुंसक वेद, स्त्री वेद, छह नोकषाय और पुरुष वेद का उपशम करता है (यदि स्त्री वेद के उदय से श्रेणी करे तो पहले नपुंसक वेद का, फिर क्रम से पुरुष वेद का, हास्यादि षट्क का फिर स्त्री वेद का उपशम करता है। यदि नपुंसक वेद के उदय वाला उपशम श्रेणी चढ़ता है तो पहले स्त्री वेद का उपशम करता है। इसके बाद क्रमशः पुरुष वेद व हास्यादि षट्क का व नपुंसक वेद का उपशम करता है)[४६]। इसके अनन्तर अप्रत्याख्यानावरण, प्रत्याख्यानावरण क्रोध का उपशम कर संज्वलन क्रोध का फिर अप्रत्याख्यानावरण, प्रत्याख्यानावरण मान का उपशम कर संज्वलन मान का, फिर अप्रत्याख्यानावरण, प्रत्याख्यानावरण माया का उपशम कर संज्वलन माया का फिर अप्रत्याख्यानावरण, प्रत्याख्यानावरण लोभ का उपशम कर संज्वलन लोभ का (दसवें गुणस्थान में) उपशम करता है।

क्षपक श्रेणी आरोहण क्रम[४७]—अनन्तानुबंधी चतुष्क व दर्शनत्रिक इन सातों प्रकृतियों का क्षय (४ से ७ गुणस्थान तक) करता है। आठवें गुणस्थान में अप्रत्याख्यानावरण चतुष्क व प्रत्याख्यानावरण चतुष्क का क्षय प्रारम्भ करता है। यह ८ प्रकृतियाँ पूर्ण क्षय नहीं होने पाती कि बीच में नवम गुणस्थान में स्त्यानर्द्धित्रिक, नरकद्विक, तिर्यग्द्विक, जातिचतुष्क, आतप, उद्योत, स्थावर, सूक्ष्म, साधारण फिर अप्रत्याख्यानावरण चतुष्क व प्रत्याख्यानावरण चतुष्क के शेष भाग का क्षय करता है—तदनन्तर नवमें गुणस्थान में अन्त में क्रमशः नपुंसक वेद, स्त्री वेद, हास्यषट्क व पुरुष वेद (यदि स्त्री श्रेणी आरूढ़ होवे तो पहले नपुंसक वेद, का फिर क्रमशः पुरुष वेद, छह नोकषाय फिर स्त्री वेद का क्षय, यदि नपुंसक श्रेणी पर चढ़े तो पहिले स्त्री वेद का, फिर पुरुष वेद, छह नोकषाय फिर नपुंसक वेद का क्षय करता है)। संज्वलन क्रोध, मान, माया का क्षय करता है। १० वें गुणस्थान में संज्वलन लोभ का क्षय करता है।

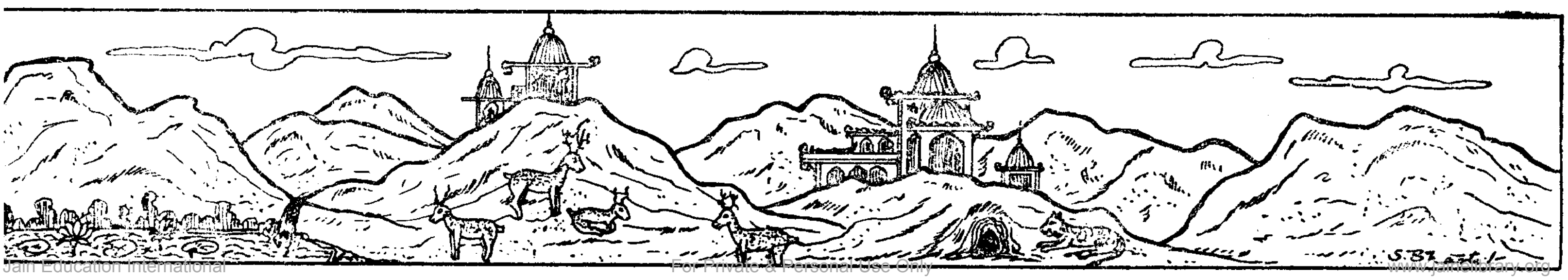

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

(१२) **क्षीणकषाय वीतराग छद्मस्थ गुणस्थान**[४८]—जिन्होंने मोहनीय कर्मों का सर्वथा क्षय कर दिया परन्तु शेष घाती कर्मों का छद्म (आवरण) विद्यमान है वे क्षीणकषाय वीतराग (माया लोभ का अभाव) कहाते हैं। इसकी स्थिति अन्तर्मुहूर्त प्रमाण है। इसमें वर्तमान जीव क्षपक श्रेणि वाले ही होते हैं। इस गुणस्थान के द्विचरम समय में निद्रा, निद्रानिद्रा का क्षय व अन्तिम समय में ज्ञानावरण, दर्शनावरण, अंतराय प्रकृतियों का क्षय हो जाता है। १२वें गुणस्थानवर्ती निर्ग्रन्थ का चित्त स्फटिकमणिवत् निर्मल हो जाता है, क्योंकि मोहनीय कर्मों का सर्वथा अभाव है।

(१३) **सयोगिकेवली गुणस्थान**[४९]—जिन्होंने ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय व अन्तराय इन चार घातिकर्मों का क्षय कर केवलज्ञान प्राप्त किया है। जिस केवलज्ञान रूपी सूर्य से किरण-कलाप से अज्ञान अन्धकार सर्वथा नष्ट हो गया है जिनको नव केवल लब्धियाँ (क्षायिक समकित, अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्तचारित्र, दान, लाभ, भोग, उपभोग, वीर्य उदय भाग) प्रकट होने से परमात्मा का व्यपदेश प्राप्त हो गया है—इन्द्रिय व आलोकादि की अपेक्षा न होने से केवली व योग युक्त होने से योगी हैं उनके स्वरूप विशेष को सयोगिकेवली गुणस्थान कहा। जिस समय कोई मनपर्यव ज्ञानी वा अनुत्तर विमान वासी देव मन से ही भगवान से प्रश्न करते हैं उस वक्त भगवान मन का प्रयोग करते हैं।[५०] मन से उत्तर देने का आशय मनोवर्गणा के पर्याय—आकार को देखकर प्रश्नकर्ता अनुमान से उत्तर जान लेता है। केवली भगवान उपदेश देने में वचनयोग का प्रयोग व हलन-चलन में काययोग का प्रयोग करते हैं।[५०]

(१४) **अयोगिकेवली गुणस्थान**[५१]—केवली सयोगि अवस्था में जघन्य अन्तर्मुहूर्त, उत्कृष्ट कुछ कम करोड़ पूर्व तक रहते हैं। इसके बाद जिन केवली भगवान के वेदनीय नाम व गोत्र तीनों कर्मों की स्थिति व पुद्गल (परमाणु) आयु कर्म की स्थिति व परमाणुओं की अपेक्षा अधिक होते हैं वे समुद्घात[५२] के द्वारा वेदनीय व नाम गोत्र की स्थिति व परमाणु आयु कर्म की स्थिति व परमाणुओं के बराबर कर लेते हैं। जिनके इन तीनों कर्मों की स्थिति, परमाणु आयु की स्थिति व परमाणुओं से अधिक न हो वे समुद्घात नहीं करते। अपने सयोगि अवस्था के अन्त में ऐसे ध्यान के लिये योगों का निरोध करते हैं जो परम निर्जरा का कारणभूत व लेश्या रहित अत्यन्त स्थिरता रूप होते हैं।

योग निरोध का क्रम—पहले बादर काययोग से बादर मनोयोग और बादर वचनयोग को रोकते हैं—इसी सूक्ष्म काययोग से क्रमशः सूक्ष्म मनोयोग व सूक्ष्म वचनयोग को रोकते हैं। फिर सूक्ष्म क्रियाऽनिवृत्ति ध्यान (शुक्ल ध्यान का तीसरा भेद) के बल से सूक्ष्म काययोग भी रोक देते हैं—व अयोगि बन जाते हैं। इसी ध्यान की सहायता से अपने शरीर के अन्तर्गत पोले भाग मुख-उदर आदि को आत्म प्रदेशों से पूर्ण कर देते हैं—प्रदेश संकुचित हो $\frac{3}{3}$ भाग रह जाते हैं। फिर वे अयोगि केवली समुच्छिन्न क्रियाऽप्रतिपाति (शुक्लध्यान का चौथा भेद) ध्यान से मध्यमगति से अ इ उ ऋ लृ पाँच अक्षर उच्चारण करें जितने काल तक शैलेशीकरण (पर्वत समान अडोल) वेदनीय, नाम, गोत्र को गुणश्रेणि से आयु कर्म को यथास्थितिश्रेणि से निर्जरा कर अन्तिम समय में इन अघाति कर्मों को सर्वथा क्षय कर एक समय में ऋजुगति से मुक्ति में चले जाते हैं।[५३]

तुलनात्मक पर्यवेक्षण—जैनशास्त्र में मिथ्यादृष्टि या बाह्यात्मा (१ से ३ गुणस्थान) नाम से अज्ञानी जीव का लक्षण कहा। जो अनात्म जड़ में आत्म बुद्धि रखता है—योगवाशिष्ठ व पातंजल में अज्ञानी जीव का वही लक्षण कहा।[५४] अज्ञानी का संसार पर्यटन दुःख फल योगवाशिष्ठ में भी कहा।[५५] जैनशास्त्र में मोह को संसार का कारण कहा—योगवाशिष्ठ में दृश्य के प्रति अभिमान अध्यास को कहा। जैनशास्त्र में ग्रन्थि-भेद कहा वैसे ही योगवाशिष्ठ में कहा।[५६] वैदिक ग्रन्थों में ब्रह्म माया के संसर्ग से जीवत्व धारण करता है—मन के संकल्प से सृष्टि रचता है। जैन मतानुसार ऐसे समझा सकते हैं—आत्मा का अव्यवहार राशि से व्यवहार राशि में आना ब्रह्म का जीवत्व धारण करना है। वैदिक ग्रन्थों में विद्या से अविद्या व कल्पना का नाश करना कहा[५७]—जैनशास्त्र में मतिज्ञानादि क्षायोपशमिक ज्ञान व क्षायिकभाव से मिथ्याज्ञान का नाश समान है। जैनदर्शन में सम्यक्त्व से उत्थान क्रम कहा वैसे ही योग के आठ अंगों से प्रत्याहार से उत्थान होता है।[५८] (देखो लेखक का ध्यान लेख श्रमणो०) योगवाशिष्ठ में तत्त्वज्ञ, समदृष्टि पूर्णाशय मुक्त पुरुष[५९] के वर्णन से जैन दर्शन की चौथे गुणस्थान से १३ तक जानो। योगवाशिष्ठ में ७ अज्ञान की, ७ ज्ञान की भूमिकाएँ कहीं[६०] वैसे ही जैनदर्शन में १४ गुणस्थान वर्णित हैं (१-३) अज्ञानी, ४-१२ अंतर्-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आत्मा, १३-१४ परमात्मा सिद्ध। वैदिक दर्शन में पिपीलका मार्ग से गिर सकता[६१] व विहंगम मार्ग से[६२] मुक्ति कही जो जैनदर्शन की उपशम—क्षपक श्रेणी से मिलती सी हैं परन्तु जैनदर्शन में स्पष्ट विस्तृत वर्णन है।

उपसंहार—यह है गुणस्थान का संक्षिप्त चित्रण। विषय गहन व अन्वेषणात्मक होने से स्थानाभाव के कारण विस्तृत भेद-प्रभेद, विचारों में जो गहनताएँ हैं उनका वर्णन नहीं किया। परन्तु निकृष्ट अवस्था निगोद (मिथ्यात्व) से लेकर किस प्रकार आत्मा नारायण अवस्था (पूर्ण परमात्मपद) प्राप्त कर सकता है—इसमें अनेक जन्म-मरण करने पड़ते हैं—इसको जानकर-समझकर भव्य जीवों को इसके प्रति प्रयास करना नितान्त आवश्यक है। एक वक्त सम्यक्त्व स्पर्श कर लिया तो क्षायोपशमिक अधिकतम अर्द्धपुद्गल परावर्तन में, औपशमिक ७।८ भव में, क्षायिक १ (चरमशरीरी) ३ भव (नरक व देव अपेक्षा से), ४ भव (असंख्यातवर्षायु जुगलिया—फिर देव, फिर मनुष्य) में मुक्ति प्राप्त कर ही लेगा।

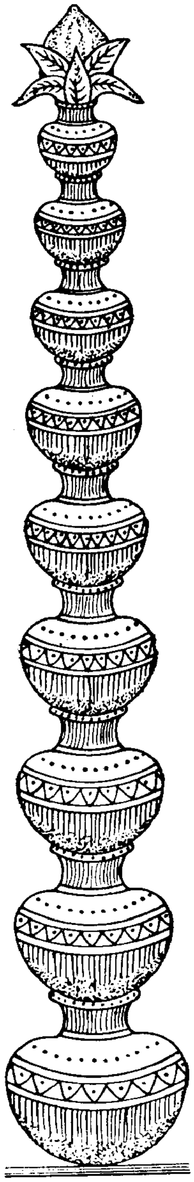

---

१ (अ) जेहिं दु लक्खिज्जंते उदयादिसु संभवेहिं भावेहिं।
जीवा ते गुणसण्णा णिद्दिट्ठा सव्वदरिसीहिं ॥ (गोम्मट०जी० ८, धवला १०४)
(आ) अनेन (गुणशब्दनिरुक्तिप्रधानसूत्रेण) मिथ्यात्वादयोऽयोगिकेवलिपर्यन्ता जीवपरिणामविशेषास्त एव गुणस्थानानीति प्रतिपादितं भवति, (जी०प्र०)। यैर्भावैः औदायिकादिभिर्मिथ्यादर्शनादिभिः परिणामैः जीवाः गुण्यन्ते—ते भावा गुणसंज्ञा सर्वदर्शिभिः निर्दिष्टाः। (मं०प्र०)

२ समता : दर्शन और व्यवहार, पृ० १०४

३ संखेओ ओघोत्ति य, गुणसण्णा सा च मोहजोगभवा। —गो०जी० ३
चउदस जीवसमासा कमेण सिद्धा य णादव्वा।—गो०जी० १०

४ मिथ्यात्वमोहनीयकर्म पुद्गलसाचिव्यविशेषादात्मपरिणामविशेषस्वरूपं मिथ्यात्वस्य लक्षणम्।
—आर्हत०दर्श०प० ६७८

५ (अ) मिच्छोदयेण मिच्छत्तमसद्दहणं तु तच्च अत्थाणं। एयतं विवरीयं, विणयं संसयिदमण्णाणं ॥ (गो०जी० १५)
(आ) मिथ्या वि तथा व्यलीका असत्या दृष्टिर्दर्शनं विपरीतैकान्तविसंशया ज्ञानरूपम्। (धवला १–१६२)

६ मिच्छंतं वेदंतो जीवो विवरीयदंसणो होदि।
णय धम्मं रोचेदि हु, महुरं खु रसं जहा जरिदो ॥—(गो०जीव० १७)

७ अभिगृहीतमिथ्यात्व, अनभिगृहितामि०, अभिनिवेशिकमि०,संशयितमि०, अनाभोगिकमि०, लौकिकमि०, लोकोत्तरमि० कुप्रावचनिकमि०, अविनयमि०, अक्रियामि०, अशातनामि०, आडयामि० (आत्मा को पुण्य-पाप नहीं लगता)। मि०, जिनवाणी से न्यून प्ररूपणा, जिनवाणी से अधिक प्र०, जिनवाणी से विपरीत प्र०, धर्म को अधर्म, अधर्म को धर्म, साधु को असाधु, असाधु को साधु, जीव को अजीव, अजीव को जीव, मोक्षमार्ग को संसारमार्ग, संसार को मोक्षमार्ग, मुक्त को अमुक्त, संसारी को मुक्त कहे। २५ भेद।

८ (क) सह आस्वादनेन वर्तते इति सास्वादनम्। (रत्नशेखर—गुणस्थान, ११)
(ख) आयम् औपशमिक सम्यक्त्व लाभ लक्षणं सादयति-अपनयतीति आसादनं, अनन्तानुबन्धी कषायवेदनमिति, नैरुक्तोयँ शब्दलोपः। आ-समन्तात् शातयति—स्फोटयति औपशमिक सम्यक्त्वमिति आशातनं अनन्तानुबन्धी कषाय वेदनमिति (हेमचंद्रवृत्ति ओ० दी० पृ० ११६)

९ दहिगुडमिव वामिस्सं, पुहभावं णेव कारिदुं सक्कं। एवं मिस्सयभावो, सम्मामिच्छोत्ति नायव्वे ॥—गो०जीव० २२

१० उपशमलब्धि, उपदेशश्रवणलब्धि, प्रायोग्यलब्धि।

११ (i) क्षयोपशमलब्धि—जिस लब्धि के होने पर तत्त्व विचार हो सके—ज्ञानावरणादि कर्मों के उदयप्राप्त सर्वघाती निषेकों के उदय का अभाव—क्षय, अनुदय प्राप्त योग्य का सत्ता रूप रहना।
(ii) विशुद्धिलब्धि—मोह का मन्द उदय होने पर मंद कषाय के भाव हों।
(iii) देशनालब्धि—जिनोक्त तत्त्वों का धारण एवं विचार हो (नरक में पूर्व संस्कार से)
(iv) प्रायोग्य—जब कर्मों की सत्ता अन्तः कोटाकोटी सागर प्रमाण रह जावे व नवीन कर्मों का बन्ध अन्तः कोटाकोटी प्रमाण से संख्यातवें भाग मात्र हो—आगे-आगे घटता जाये, किसी का बन्ध भी घटे। (लब्धिसार ३५)

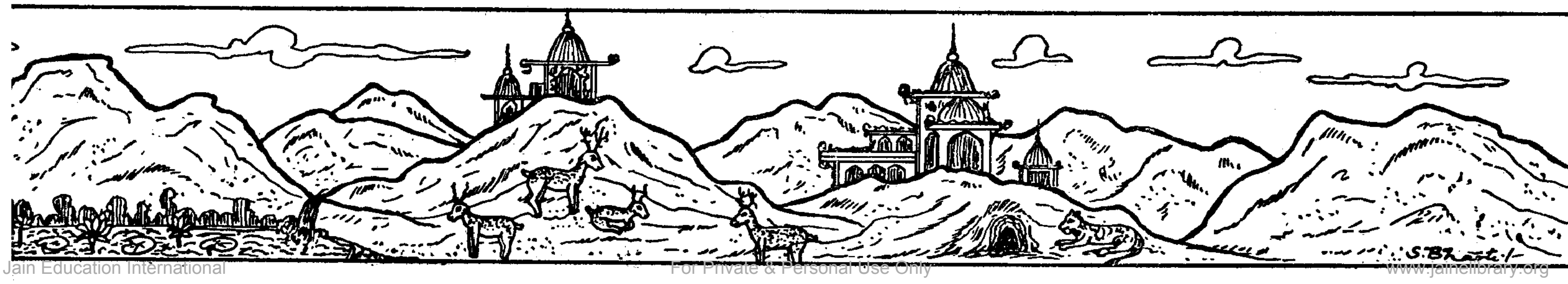

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

१२ प्र०—यथाप्रवृत्तिकरणं, नन्वनाभोगरूपकम् भवत्यनाभोगतश्च, कथं कर्मक्षयोऽङ्गिनाम् ?
उ०—यथा मिश्रो घर्षणेन, ग्रावाणेऽद्रि नदीगताः, स्युश्चित्राकृतयोज्ञान-शून्या अपि स्वमावतः । तथा तथा प्रवृत्तास्यु-रप्यनाभोगलक्षणात् लघुस्थिति कर्माणां, जन्तवोऽत्रान्तरेऽथ च । (६०७-६०९ लोक प्र० ३)

१३ गंठित्ति सुदुब्भेतो कक्खड धण रूढगूढ गण्ठिव्व ।
जीवस्स कम्म जणितो घण रागद्दोस परिणामो ॥—वि० भाष्य० ११९२

१४ तित्थंकरातिपूअं दट्ठुण्णेणवाविकज्जेण, सुतसामाइयलामो होजाऽमवूस्स गण्ठिम्मि—वि० भा० १२१६
अभव्यस्यापि कस्यचित् यथाप्रवृत्तिकरणतो ग्रन्थिमासाद्य अर्हंतादि विभूति दर्शनता प्रयोजनान्तरतो वा वर्तमानस्य श्रुत सामयिक लाभोमवति । —आ० सूत्र टी०

१५ चउदसदसय अभिन्नै, नियमा सम्मं, तु सेसरा मयणा ।—कल्प भाष्य

१६ अडवीभवो मणुसा जीवा कम्मट्ठिति पधोदीहो, गंठीयभयल्पाणं, राग दोसाय दो चोरा ।
भग्गो ट्रिति परिवड्ढीगहीतो पुणगंठितो गतो ततियो । सम्मत पुरं एवं जोएज्जा तिण्णिकरणाणि । वि०आ० १२१०-११

१७ तीव्रधार पर्श कल्पाऽपूर्वाख्य करणेन हि ।
अविष्कृत्य परं वीर्यं, ग्रन्थिं मिन्दति केचन ॥ (६१८ लोक प्र० स० ३)

१८ अपुव्वेण तिपुज्जं मिच्छत्तंकुणति कोद्दवोवमया ।
अणियट्टि करणेण तु सो सम्मद्दंस णं लमति ॥ (वि० भा० १२१५)

१९ आर्हतदर्शन दीपका पृष्ठ ९६

२० वही, कम्मपयडी, पृ० १६३

२१ अथानिवृत्तिकरणेनातिस्वच्छाशयात्मना ।
करोत्यन्तरकरणमन्तर्मुहूर्त समितम् । ६२७ लोक प्र०स० ३

२२ जात्यन्धस्य यथा पुंसश्चक्षुर्लाभे शुभोदये ।
सद्दर्शनं तथैवास्य, सम्यक्त्वे सति जायते ॥
आनन्दो जायतेऽत्यन्तं, तात्विकोऽस्य महात्मनः ।
सद्व्याध्यपगमे यद्वद्, व्याधितस्य तदौषधात् ॥२ ॥ —मलयटीकाकम्मचमू

२३ तं कालं बीयठिइं, तिहाऽणुमागेण देसघाइत्थ ।
सम्मतं समिस्रं मिच्छत्तं सव्वघाइओ । —कम्मप० उपशमनाक० १९
टीका—चरम समयं मिच्छादिट्ठि ते काले उवसमसम्मदिट्ठि होइहि ताहे विइयठिइं तिहाणुभागं करेइ तं सम्मं, सम्ममिच्छत्तं, मिच्छत्तं चेति ।

२४ सर्वार्थसिद्धि पृ० २ ।

२५ मोक्षोऽविरोधी वा प्रशम संवेगादि लक्षणः आत्मधर्मः । (अर्ह० दी० ७०) ।
से असमत्ते परत्थ समत्त मोहणीयकम्माणुव अणोवसमक्षयसमुत्थे परमसंवेगाइ लिंगे आय परिणामे पराणत्ते, —मद्रबाहु० पृ० ७१ ।

२६ निश्चय नयस्तु द्रव्याश्रित्वात् केवलस्य जीवस्यभावमवलंव्य परभावं सर्वमेव प्रतिषेधयति । (तत्त्वचर्चा खनिया २।७१२) ।

२७ अप्पा अप्पमि रओ समाइट्ठीहवेइ जीवो, अप्पाणं एव सम्मत्तं (भावना पाहुड दर्शन पाहुड) । जो चरदिणादि मिच्छादि अघाणं अघरता अण्णन्नं । सो चरितं णाणं देसण सिदि णिछिदो होइ ।।—पं० काय १३८

२८ धर्मधर्मिणोः समावतोऽभेदेपि व्यपदेशतो भेदमुत्पाद्य व्यवहारमात्रेणैव ज्ञानं दर्शनं चारित्रं इत्थमुपदेशः (सम० ७) ।

२९ देव का स्वरूप—परमेष्ठी परं ज्योतिर्विरागो विमलः कृती ।
सर्वज्ञोऽनादिमध्यान्तः सार्वः शास्तोपलाल्यते (प्रतिपाद्यते) ।
गुरु—विषयाशावशातीतो निरारम्भो परिग्रहः ।
ज्ञानध्यान तपोरक्तस्तपस्वी स प्रशस्यते ॥
धर्म—धारयति रक्षयति आत्मानं दुर्गति पतनात् यो धरत्युत्तमे सुखे ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

३० तहियाणं तु भावाणं सब्भावे उवएसणं । भावेण सद्दहंतस्स सम्मत्तं तं विहाइयं ।—उत्तरा० २८-१५ ।

३१ तत्त्वार्थाधिगम, भाष्य पृ० १०-१४ ।

३२ सत्तण्हं उवसमदो, उवसमसम्मो खया दु खइयो य ।
विदियकसायुदयादो असंजदो होइ सम्मो य ।।—गो० जी० २६

३३ स्थिरायां दर्शनं नित्यं, प्रत्याहारवदेव च ।
कृत्यमभ्रान्तमनवद्यं सूक्ष्म बोध समन्वितं ।। (योगदृष्टि सं० ५२ हरिभद्र)

३४ जो तसबहाउ विरदो अविरदओ तहय थावरबहादो ।
एक्कसमयम्हि जीवो, विरदाविरदो जिणेक्कमई ।।—गो० जी० ३१

३५ संजलण णोकसायाणुदयादो संजमो हवे जम्हा ।
मलजणण पमादो वि य, तम्हाहु पमत्त विरदो सो ।।—गो० जी० ३२

३६ विकहा तहा कसाया इंदियणिद्दा तहेव पणयो (प्रणयस्नेह) य ।
चदु चदु पणगेगं होंति पमादा हु पण्णरस ।।—गो० जी० ३४
वा अज्ञान, संशय, मिथ्याज्ञान, मतिभ्रंश, धर्म मा अनादर राग, द्वेषयोगकादुष्प्रणिधान ।

३७ संजलणणो कसायाणुदओ मंदो जदा तदा होदि ।
अपमत्त गुणो तेणय, अपमत्तो संजदो होदि ।।—गो० जी० ४५

३८ णट्ठासेसपमादो, वयगुणसीलेलि मंडिओ णाणी ।
अणुवसमओ अखवओ झाणणिलोणोहु अपमत्तो ।।४५।।—गो० जी०

३९ भिण्णा समयट्ठियेहिंदु, जीवेहिं ण होदि सव्वदासरिसो ।
करणेहिं एक्कसमयटि्ठयेहिं सरिसोविसरिसो वा ।।—गो० जी० ५२

४० एदह्मि गुणट्ठाणे विसरिससमयट्ठियेहिं जीवेहिं ।
पुव्वमपत्ता जह्मा, होंति अपुव्वा हु परिणामा ।।—गो० जी० ५१

४१ (अ) गुणसेढीदलरयणाऽणु समयमुदयादसंख गुणणाए ।
एय गुणापुण कमसो असंखगुण निज्जरा जीवा ।।—कर्मग्रन्थ, देवेन्द्र सूरि, भाग ५।८३
(आ) उवरिल्लिओ ट्ठितिउ पोग्गलघेतूण उदयसमये थोवा ।
पक्खिवति, वितियसमये असंखेज्ज गुणा जीव अन्तोमुहुत्तं ।।
(इ) टीका यशोविजय—अधुनागुणश्रेणिरूपमाह यत्तिस्थिति कण्डक घातयति तन्मध्याद्दलिक गृहीत्वा उदयसमयादारभ्यानन्तर्मुहूर्त समयं यावत् प्रतिसमयमसंख्येय गुणनयाअतिक्षिपति ।—कम्मपयडि—उपशमनद्वार ।

४२ एकाह्मिकाल समये संठाणादीहिं जहंणिवट्टति ण । णिवट्टन्ति तहावियपरिणामेहिंमिहो जेहिं ।।
होंति अणियट्टिणो ते अंडिसमय जोसिमेक्क परिणामा ।
विमलवर झाण हुयवह सिहाहिंसद्दिढकम्मवणा ।।—गो० जी० ५६–५७

४३ धुदकोसुंमयवत्थं, होदि जहा सुहमराय संजुत्तं । एवं सुहुम कसाओ, सुहुम-सरागोति णादव्वो ।—गो० जी० ५८

४४ कदक्कं फलजुदजलं वा सहरासरवाणियं व णिम्मलयं ।
सयलोवसंतमोहो, उवसंत कसायओहोदि ।।—गो० जी० ५९

४५ अण दंसणपुंसगइत्थि वेद छक्कं च पुरिस वेतं च ।
दो दो एगंतरिते सरिसेसरिसं उवसमेति ।।—वि० भा० १२८५

४६ तत्तो य दंसण त्तिगं तओऽणुइण्णं जहन्नखेयं ।
ततोवीयं छक्कं तओय वेयं सयमुदिन्तं ।।—वि० भा० १२८५

४७ अणमिच्छमीससम्मं तिआउइग विगल थीणतिगुज्जोवं ।
तिरिनरयथावरदुगं साहारायवअड नपुत्थिए ।।—कर्मग्रन्थ, देवेन्द्र सूरि ५।९९

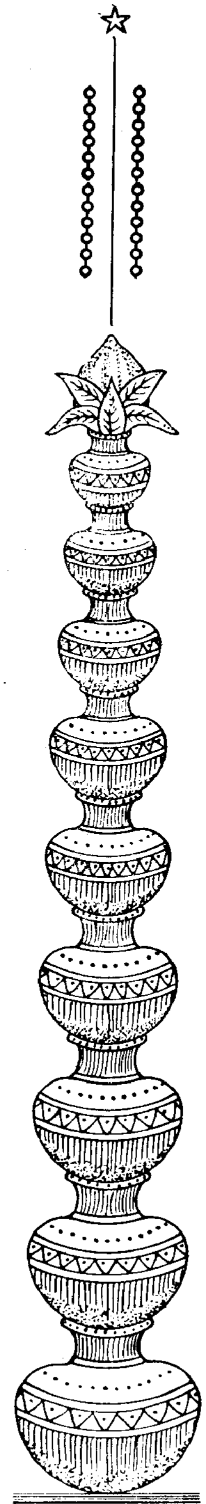

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

४८ णिस्सेसखीणमोहो, फलिहामलमायणुदयसमचित्तो ।
खीण कसाओ भण्णदि णिगंथो बीय रायेहिं ।।—गो०जी० ६२

४९ केवलणाणदिवायरकिरण, कलावप्पणा सियएण्णाणो ।
णवकेवलद्धुग्गम सुजणियपरमप्पववएसो ।।—गो०जी० ६३
असहायणाणदंसणसहिओ इदि केवली हु जोगेण ।
जुत्तो ति सजोगजिणो अणाइणिहणारिसे उत्तो ।।—गो०जी० ६४

५० द्रष्टव्य भगवतीशतक ५, तत्त्वार्थ सूत्र १ अध्याय, पृ० ४६

५१ सीलेसिं संपत्ता, णिरुद्धणिस्सेस आसवो जीवो ।
कम्मरय विप्पमुक्को, गय जोगो केवली होदि ।।—गो०जी० ६५

५२ समुद्घात=समित्येकीभावे, उत्=प्राबल्ये, हननं=घातः=एकीभावेन प्राबल्येन घातो=निर्जरा अष्टसामयिका क्रियाविशेषः ।

५३ जया जोगे निरुंभित्ता, सेलेसिं पडिवज्जइ ।
तया कम्मं खवित्ताणं सिद्धिं गच्छइ नीरओ ।।—दशवै० ४/२४

५४ (अ) यस्याऽज्ञानात्मनो ज्ञानं, देह एवात्म भावना ।
उदितेति रुधैवक्षिः, रिपवोऽभिभवन्ति तम् ।।—नि०प्र०५सं०६
(आ) अनित्याऽशुद्धि दुःखा नात्मसुनित्यशुचि सुखात्मख्यातिरविद्या । (पातंजल यो०५)

५५ अज्ञानात्प्रसूता यस्याज्जगतपर्ण परंपराः ।
यस्मिंतिष्ठन्ति राजन्ते, विशन्ति निलसन्ति च ।।५३।।

५६ ज्ञप्तिर्हि ग्रन्थिविच्छेदस्तमिन् सति हि मुक्तता ।
मृगतृष्णाम्बु बुध्यादि, शान्तिमात्रात्मकत्वसां ।।—२३ प्र० सं० ११

५७ मिथः स्वान्ते तयोरन्तं श्छायातपनयोरिव ।
अविद्यायां विलीनायां क्षीणेद्वे एव कल्पन्तेः ।।—२३ सं० ६

५८ यम नियमासनःप्राणायामप्रत्याहारधारणाध्यानसमाध्यौऽष्टांगानि ।।—२९ साधनापाद पातं० ।।

५९ क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्ट पुरुषविशेष ईश्वरः । तत्र निरतिशय सर्वज्ञ बीजम् ।।—२४-२५ साधनापाद पा०

६० अज्ञान भूः सप्तपदाः, ज्ञभूः सप्तपदेव हि ।
पदान्तराण्य संख्यानि, भवन्यान्यथेतयोः ।।—उपशम प्र०२

६१ यमाद्यासनजाया सहठाभ्यासात्पुनः पुनः ।
विघ्न बाहुल्य संजात अणिमादि वशादिह ।
अलब्ध्वापि फलं सम्यक् पुनर्भूत्वा महाकुले,
पूर्ववास नैवायं योगाभ्यासं पुनश्चरत् ।
अनेक जन्माभ्यासेन वामदेवेन वै पथा,
सोऽपि मुक्तिं समाप्नोति तद्विष्णोः परमं पदम् । (क्रममुक्ति) योगांक प० ६३

६२ अतद् व्यावृत्तिरूपेण साक्षाद्विधिमुखेन वा,
महावाक्यविचारेण सांख्ययोग समाधिना ।
विदित्वा स्वात्मनो रसं संप्रज्ञात समाधिः,
शुक्ल मार्गेण विरजा प्रयान्ति परमं पदम् ।।

□□

१ लेख की टंकित प्रति काफी अस्पष्ट व अशुद्ध होने के कारण संशोधन का यथाशक्य प्रयत्न करने पर भी यदि कोई अशुद्धि ध्यान में आये तो कृपापूर्वक प्रबुद्ध पाठक सूचित करें । —प्रबंध संपादक

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org